शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक सातवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अपूर्व आत्मशांति

भगवान! अनादिकाल में जो कभी प्रगट नहीं हुई—ऐसी अपूर्व शांति का वेदन कैसे प्रगट हो... सम्यग्दर्शन कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई! अनंतकाल का अनजान मुक्तिपंथ... वह सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता। तेरे चैतन्य में जीवनशक्ति भरी है... आनन्द के निधान तेरी शक्ति में भरे हैं, उसके सन्मुख होकर एकबार उसकी प्रतीति कर तो अपूर्व अतीन्द्रिय शांति का अंश प्रगट हो। किसी बाह्य क्रिया के कारण या अन्तर में जो शुभ परिणाम होते हैं, उनके अवलम्बन से आत्मा की अपूर्व शांति प्रगट हो—ऐसा नहीं होता; अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करके चिदानन्दस्वभाव को जानने से वह अपूर्व शांति प्रगट होती है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२७

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक सातवाँ

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१६]

त्यागोपादनशून्यत्वशक्ति

ज्ञानस्वरूप कहकर आत्मा की पहचान करायी, वहाँ ज्ञान के साथ दूसरे अनंत धर्म भी विद्यमान हैं। उनमें एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है, इसलिये आत्मा नियतरूप से ऐसे स्वरूप में रहता है जो न्यूनाधिक नहीं होता। देखो, इसमें पर्यायबुद्धि के धुर्रे उड़ जाते हैं। पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं और विकार का ग्रहण-त्याग भी आत्मा के त्रिकालीस्वरूप में नहीं है। त्रिकालीस्वरूप में विकार को छोड़ूँ और निर्मलपर्याय को ग्रहण करूँ—ऐसा भी नहीं है; वह तो पर्यायदृष्टि में है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर आत्मा अपने ज्यों का त्यों स्वरूप में निश्चलरूप से विद्यमान है; वह त्रिकाल सिद्धसमान है, उसके स्वभाव में किंचित् न्यूनाधिकता नहीं होती। पर्याय में विकार हो और वह दूर होकर निर्मलता प्रगट हो, परन्तु उससे त्रिकाली द्रव्य में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। वर्तमान अंश की ओर देखें तो पर्याय में न्यूनाधिकता दिखाई देती है, परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव से देखने पर आत्मा न्यूनाधिकता रहित नियत एकरूप स्वरूप में ही स्थित है, एकरूप है। पर्याय के अंश में जो न्यूनाधिकता दिखाई देती है, वह व्यवहारनय का विषय

है, इसलिये अभूतार्थ है; यहाँ भूतार्थदृष्टि में उसका निषेध करके कहते हैं कि—आत्मा का त्रिकाली स्वभाव ग्रहण-त्याग से रहित है, उसमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय में राग दूर होकर वीतरागभाव हो जाता है, परन्तु वह भी व्यवहार का विषय है। यहाँ तो सम्यक् निश्चय की प्रधानता है। व्यवहार की प्रधानता नहीं है।

आत्मा में परद्रव्य का तो ग्रहण-त्याग नहीं है, परन्तु राग का ग्रहण-त्याग भी आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। त्रिकालीस्वभाव तो राग के अभावस्वरूप ही है; राग का त्याग करूँ और निर्मलपर्याय को ग्रहण करूँ—ऐसा त्रिकालीस्वभाव में नहीं है। यदि त्रिकालीस्वभाव में राग का ग्रहण-त्याग हो तो वह त्रिकाल होता ही रहे। सिद्धदशा में भी आत्मा, राग का ग्रहण-त्याग करता ही रहे, तो पूर्णता कभी हो ही नहीं सकती, इसलिये द्रव्यस्वभाव से आत्मा को राग का ग्रहण-त्याग नहीं है—ऐसा त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव है।

और त्रिकालीस्वभाव से देखने पर आत्मा एकरूप है, उसके स्वरूप में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। संसारपर्याय के समय आत्मा के त्रिकाली गुणों में से कुछ कम हो गया और मोक्षपर्याय प्रगट होने पर कुछ बढ़ गया—ऐसा नहीं है; अथवा संसारदशा में अल्पपर्याय प्रगट हो, उस समय द्रव्य में शक्तिरूप से बहुत कुछ शेष रहा, और मोक्ष की पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस समय द्रव्य में शक्ति अल्प रह गई—ऐसा भी नहीं है। इस समय तो आत्मा के एकरूप अस्तिस्वभाव की बात है, पर्याय में राग का त्याग अथवा शुद्धता की वृद्धि होती है, उसकी प्रधानता नहीं है, क्योंकि वह पर्याय तो अभेद स्वभावोन्मुख है, इसलिये उस पर्याय की प्रधानता नहीं रही, परन्तु अभेद द्रव्य की ही प्रधानता रही। इसलिये अभेददृष्टि करना, वह धर्म का मूल है।

जिस प्रकार कड़ा-कुण्डल-हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ बदलने पर भी, सुवर्ण कम-अधिक नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में हीनता-अधिकतारूप परिणमन होने पर भी उसके त्रिकाली द्रव्य-गुण का सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता। धर्मात्मा जीव की दृष्टि ऐसे स्वभाव पर है, विकार को दूर करने पर धर्मात्मा की दृष्टि नहीं है; स्वभाव की दृष्टि से उसका विकार दूर अवश्य होता जाता है परन्तु वह विकार दूर करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। विकार को दूर करूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह पर्यायबुद्धि है; क्योंकि विकार के लक्ष से विकार दूर नहीं होता। त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि में तो हीन पर्याय का त्याग और पूर्ण पर्याय का ग्रहण भी नहीं है; त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से पर्याय में वैसा हो अवश्य जाता है, परन्तु उस पर्याय के सन्मुख दृष्टि

नहीं है, दृष्टि तो द्रव्योन्मुख हो गई है। मैं इस राग को छोड़ दूँ—ऐसी बुद्धि से जो लाभ माने, वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि 'राग को छोड़ दूँ'—ऐसे लक्ष से भी विकार की उत्पत्ति ही होती है; तथापि उसे विकार को छोड़ने का साधन मानता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के मूलस्वभाव में राग नहीं है; इसलिये उस स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकाग्र रहने से पर्याय में राग की उत्पत्ति ही नहीं होती।—यही राग के त्याग की रीति है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से राग का त्याग करना माने, वह अज्ञानी है।

आत्मा के त्रिकाली गुणों में विकार का ग्रहण-त्याग नहीं है, और उनमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती;—ऐसे स्वभाव की दृष्टि, वह द्रव्यदृष्टि है, वह सम्यक् दृष्टि है और वही प्रथम धर्म है। देखो, आत्मा का ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसमें पहले मति-श्रुतरूप अल्प पर्याय थी और पश्चात पूर्ण केवलज्ञानपर्याय प्रगट हुई; वहाँ मति-श्रुतरूप अल्प पर्याय के समय ज्ञानगुण की शक्ति अधिक थी और केवलज्ञानरूप पूर्ण पर्याय प्रगट होने पर ज्ञानगुण की शक्ति अल्प रही—ऐसा नहीं है। हीन या अधिक चाहे जैसी पर्याय प्रगट हो, परन्तु द्रव्य-गुण का सामर्थ्य तो अनादि-अनंत एकरूप है, वह न्यूनाधिक नहीं होता, ऐसा द्रव्यस्वभाव है। अहो! ऐसी दृष्टि में कितनी वीतरागता है!! पर्याय की बुद्धि छोड़कर दृष्टि त्रिकाली द्रव्य में अभेद हुई, वहाँ प्रतिक्षण धर्म होता है।

पर्याय में विपरीत मान्यता, वह अधर्म है; त्रिकाली द्रव्य में उसका ग्रहण नहीं है और ऐसा जो समझे उसके तो पर्याय में भी विपरीत मान्यता नहीं रहती।

प्रश्न :- मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—ऐसा विचार करे तो?

उत्तर :- यह ठीक है, लेकिन उसकी रीति क्या है, वह समझना चाहिए न? 'मिथ्यात्व को दूर करूँ'—ऐसे लक्ष से क्या मिथ्यात्व दूर होता है? और 'सम्यक्त्व प्रगट करूँ'—ऐसे विकल्प से क्या सम्यक्त्व प्रगट होता है?—ऐसा तो नहीं होता। ध्रुव चिदानन्दस्वभाव अनादि-अनंत एकरूप है, उसमें मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—ऐसे भेद नहीं हैं, उस स्वभाव की रुचि और महिमा करके उसमें एकाग्र होने से पर्याय में मिथ्यात्व का व्यय और सम्यक्त्व का उत्पाद हो जाता है। इसलिये ऐसे एकरूप स्वभाव को जानकर उसमें दृष्टि और एकाग्रता करना, वह धर्म की रीति है।

अज्ञानी जीव, देह के संयोग को और राग को ही आत्मा मान रहे हैं, परन्तु आत्मा तो ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है; राग की उपाधि या देह का संयोग, वह सच्चा स्वरूप नहीं है;—ऐसे

आत्मा को अज्ञानी नहीं पहिचानता, इसलिये यहाँ आत्मा के स्वभाव का वर्णन करके उसकी पहिचान कराते हैं। हे भाई! राग तेरा असली-नित्य (स्थायी) स्वरूप नहीं है किन्तु क्षणिक उपाधिभाव है; वह राग छूट जाने से तेरे स्वभाव में से कुछ भी कम नहीं हो जाता; और पर्याय में ज्ञानादि की वृद्धि होती है, वह तेरे स्वरूप में से आती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती; इसलिये उस शुद्धता की वृद्धि होने से द्रव्य में कुछ वृद्धि हो गई—ऐसा नहीं है।

आत्मा, पर के ग्रहण-त्याग से रहित अपने एकरूप स्वरूप में निश्चल है। यदि आत्मा, पर का ग्रहण करे तो बढ़ जाये और यदि अपने ज्ञानादि गुणों को छोड़ दे तो कम हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा ने अपने स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है और न पर को कभी ग्रहण किया है। समाधितंत्र में श्री पूज्यपादस्वामी भी कहते हैं कि:—

यदग्राह्यं न ग्रह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२०॥

जो अग्राह्य को, अर्थात् ग्रहण न होने योग्य—ऐसे परपदार्थ को और विकार को ग्रहण नहीं करता और गृहीत को, अर्थात् ग्रहण किए हुए ऐसे अपने शाश्वत स्वभाव को छोड़ता नहीं है, सर्व को सर्वप्रकार से जानता है, ऐसा स्वसंवेद्य तत्त्व मैं हूँ। आत्मा सदैव अपने एकरूप स्वरूप में निश्चल है; उसकी दृष्टि और उसका अनुभव, वह मोक्षमार्ग है।

अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'जैनधर्म तो त्याग-प्रधान धर्म है;' परन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा, पर को ग्रहण करे या छोड़े—यह बात ही जैनधर्म में नहीं है। जैनधर्म तो अनेकान्त मार्ग है और उसमें स्वभाव की अस्ति की प्रधानता है, राग के त्याग की प्रधानता नहीं क्योंकि राग का त्याग तो 'नास्ति' है परन्तु किसकी 'अस्ति' के बल पर राग की नास्ति करेगा? स्वभाव की अस्ति के अवलम्बन से पर्याय में राग की नास्ति हो जाती है; इसलिये जैनधर्म में भूतार्थस्वभाव की अस्ति की प्रधानता है।

आत्मा की अस्ति में पर की तो नास्ति है; इसलिये पर का त्याग करूँ—यह बात तो वस्तु में है ही नहीं; और राग का त्याग, सत् वस्तु के अवलम्बन के बिना नहीं हो सकता; इसलिये ध्रुववस्तु का अवलम्बन ही जैनधर्म है। जैनमार्ग कहो, वीतरागमार्ग कहो, अनेकान्तमार्ग कहो, मोक्षमार्ग कहो अथवा अहिंसाधर्म कहो—अपने आत्मस्वभाव के अवलम्बन में ही उन सब का समावेश हो जाता है।

''त्यागोपादानशून्य'' कहकर आत्मा के त्रिकाल अस्तिरूपस्वभाव की स्थापना की है। पर को ग्रहण करूँ या छोड़ूँ, वह तो आत्मा में नहीं है और अपनी पर्याय में अशुद्धता को छोड़कर शुद्धता ग्रहण करना, वह भी व्यवहार है। निश्चय से तो वस्तु अपने स्वरूप में ही त्रिकाल एकरूप है, उसमें कहीं ग्रहण या त्याग नहीं है, उसमें कुछ न्यूनाधिक नहीं होता। अज्ञानी के भी ऐसा ही स्वभाव है, परन्तु उसे अपने स्वभाव का भान नहीं है। अपने ऐसे स्वभाव का भान होने से पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

वस्तु अखण्ड परिपूर्ण है, उस अखण्ड वस्तु की दृष्टि करन से अवस्था में निर्मलता होती है और अशुद्धता दूर होती है। धर्मी जीव की दृष्टि के विषय में अखंड निर्मल तत्त्व है, इसलिये वस्तु में नयूनाधिकता नहीं है—ऐसा कहकर यहाँ वस्तुस्वभाव की दृष्टि करायी है, परन्तु अपनी अवस्था में विकार है, उसका बिलकुल स्वीकार ही न करे तो उसे दूर करने का उद्यम कहाँ से करेगा? और विकाररहित अपने शुद्ध स्वभाव को न पहिचाने तो विकार को किसके अवलम्बन से दूर करेगा? इसलिये द्रव्य और पर्याय दोनों को यथावत् जानना चाहिये। द्रव्य-पर्याय की संधि किए बिना एकान्त को पकड़ ले तो कहीं धर्म नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपने स्वरूप का भान है। उस स्वरूप में निर्विकल्प एकाग्रता न रह सके, उस समय वे शुभविकल्प में भी युक्त होते हैं, परन्तु वास्तव में शुभराग कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। कोई अज्ञानी प्राणी भी व्यवहार में तीव्र कषायभाव छोड़कर राग को कम करता हो, तो वहाँ वह मन्दराग कहीं धर्म नहीं है, तथापि उसे राग कम करने को मना नहीं किया जा सकता। जब धर्मी की दृष्टि में पुण्यभाव का भी आदर नहीं है, तब फिर पापभावों को बढ़ाने की तो बात ही कहाँ से हो सकती है? परन्तु कोई पापभावों को कम करके पुण्यभावों में धर्म मानकर संतोष मान ले, तो उससे कहते हैं कि भाई! यह धर्म नहीं है; धर्म तो अन्तर में तेरे सहज स्वभाव की वस्तु है। पर के ग्रहण-त्याग से रहित अखण्ड एकरूप वस्तु तेरे अन्तर में बिराजमान है, उसकी दृष्टि के बिना तुझे सच्ची स्थिरता नहीं होगी, और स्थिरता के बिना चारित्र अथवा केवलज्ञान नहीं होगा; इसलिये प्रथम यथार्थ वस्तु की महिमा समझकर उसमें दृष्टि कर।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सब एकसाथ ही वर्त रही है; उनमें यह शक्ति पहली और यह दूसरी—ऐसे नंबर नहीं लिखे हैं, परन्तु भाषा में तो क्रम से ही आती हैं; और आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक ही महिमा अधिक और दूसरी की महिमा कम—ऐसे भेद नहीं है, सर्व शक्तियाँ

अपनी-अपनी पूर्ण महिमा धारण करती हैं। ज्ञान की महिमा अधिक और दर्शन की महिमा कम—ऐसा नहीं है। अभेद आत्मद्रव्य में सर्व शक्तियाँ एक साथ ही प्रवर्तमान हैं, उनमें कालभेद या क्षेत्रभेद नहीं है।

आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव है; इसलिये आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों पर के ग्रहण-त्याग से रहित हैं। आत्मा की चारित्रदशा-मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ वस्त्रों का संयोग देखा ही नहीं—यह बराबर है, तथापि वस्त्रादि को छोड़े या निर्दोष आहार को ग्रहण करे—ऐसा चारित्र का स्वभाव नहीं है; चारित्र का स्वभाव तो आत्मा में लीन होने का है। उसी प्रकार ज्ञानगुण में जानने का स्वभाव है परन्तु परज्ञेयों को ग्रहण करे या छोड़े—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। इस प्रकार आत्मा के सर्व गुण-पर्यायें, पर के ग्रहण-त्याग से रहित हैं; ऐसा स्वरूप समझे, उसका परिणमन पर से विमुख होकर स्वद्रव्योन्मुख हुए बिना नहीं रहता। मुझमें पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं, मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुख इत्यादि किन्हीं भी गुणों का पर में से ग्रहण नहीं होता; इसलिये मुझे परसन्मुख देखना नहीं रहता और मुझमें हीनाधिक पर्याय के समय भी मेरा द्रव्य तो अपने एकरूप स्वरूप में ही निश्चलरूप से स्थित है।—इस प्रकार द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में पर्याय की मुख्यता नहीं रहती, अर्थात् द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्गरूप परिणमन हो जाता है।

आत्मा के अपने स्वरूप को भूलकर अनादि से चार गतियों में परिभ्रमण किया, परन्तु वहाँ उसने अपने द्रव्यस्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है और जड़ शरीरादि को वास्तव में कभी ग्रहण नहीं किया है; जड़ से तो वह सदैव पृथक् ही रहा है। आत्मा के द्रव्य में, गुण में अथवा पर्याय में परद्रव्य का ग्रहण है ही नहीं। धर्मात्मा जीव की दृष्टि में मात्र अपने शुद्ध चिदानन्द आत्मा ही है। अज्ञानी जीव भ्रांति से विकार को ग्रहण करता है, परन्तु परद्रव्य का ग्रहण या त्याग तो ज्ञानी या अज्ञानी किसी के नहीं है। 'अरिहंत' अर्थात् कर्मरूपी शत्रु का हनन करनेवाले—ऐसा उपचार से कहा जाता है परन्तु वास्तव में अरिहंत भगवान के आत्मा में जड़कर्म का ग्रहण या त्याग नहीं है। जड़-चेतन की भिन्नता को भी न समझे और ऐसा माने कि आत्मा, जड़ का ग्रहण-त्याग करता है, तो उसे धर्म कहाँ से होगा? ऐसा जीव अपनी मिथ्या कल्पना से अपने को धर्मी, व्रतधारी या मुनि भले मानता हो, परन्तु धर्म किसे कहते हैं, इसकी भी उसे खबर नहीं है।

आत्मा का अपना जो असली स्वरूप है, उसे आत्मा कभी छोड़ता नहीं है और परद्रव्यों का आत्मा में अभाव है, इसलिये उन्हें वह कभी ग्रहण नहीं करता है। अज्ञानी मानते हैं कि बाह्य त्याग,

वह धर्म है, परन्तु भगवान कहते हैं कि अरे भाई! बाह्य वस्तु का त्याग आत्मा कभी करता ही नहीं; आत्मा में बाह्य वस्तु हो, तब तो वह उसे छोड़े न? 'मैंने बाह्य वस्तु का त्याग किया'—ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसने बाह्य वस्तु को आत्मा में प्रविष्ट हुआ माना है, उसकी उस मान्यता में स्व-पर की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा तो अखण्ड विज्ञानघन है, उसमें बीच में ऐसी पोल नहीं है कि परवस्तु उसमें प्रविष्ट हो जाये!

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ऐसे चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे हैं, वे चारों प्रकार जीव की पर्याय में ही हैं; कहीं परद्रव्य में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है। अर्थ, अर्थात् लक्ष्मी आदि प्राप्त कर लूँ —ऐसी इच्छारूप विपरीत पुरुषार्थ करता है और वह जीव की पर्याय में उस प्रकार का पापभाव होता है, उसे अर्थ पुरुषार्थ कहा है परन्तु कहीं जड़ लक्ष्मी का ग्रहण आत्मा में नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ऐसे चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे, उनमें धर्म पुरुषार्थ, वह पुण्यभाव है; अर्थ पुरुषार्थ, अर्थात् धनप्राप्ति का पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ, अर्थात् विषय-वासना का भाव—वे दोनों पापभाव हैं; चौथा मोक्ष पुरुषार्थ, वह आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप पवित्रभाव है।—इनमें पहले तीन प्रकार का पुरुषार्थ जीव ने पूर्व काल में अनन्तबार किया है, परन्तु मोक्ष का पुरुषार्थ पहले कभी क्षणमात्र भी नहीं किया है; इसलिये वह अपूर्व है। पूर्व अनन्तकाल में जीव ने अपनी पर्याय में पुण्य-पाप का पुरुषार्थ किया, परन्तु परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किसी जीव ने कभी किया ही नहीं है।—ऐसी ही वस्तुस्थिति की मर्यादा है।

(छह बहिनों के ब्रह्मचर्य-ग्रहण का दिन)

[वीर सं. २४७५, कार्तिक शुक्ला १३, रविवार]

यह आत्मा के स्वभाव की बात चल रही है। भगवान आत्मा में त्रिकाल अनन्त शक्तियाँ हैं; जितनी शक्ति सिद्ध भगवान में है, उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मा में है; प्रत्येक आत्मा अपनी प्रभुता का पिण्ड है। आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है; इसलिये जो कभी न्यूनाधिक नहीं होता—ऐसे अपने निश्चित् स्वरूप में आत्मा विद्यमान है। पहले अनादिकाल निगोददशा में रहा, इसलिये कहीं द्रव्य कम नहीं हो गया है और सिद्धदशा प्रगट होने से द्रव्य बढ़ नहीं जाता; उसी प्रकार जब अल्पदशा प्रगट हो, उस समय द्रव्य में बहुत शक्ति शेष रही और परिपूर्ण सिद्धदशा प्रगट

होने से द्रव्य में कम शक्ति रही—ऐसा भी नहीं है। द्रव्य-सामर्थ्य सदैव ज्यों का त्यों है, वह कभी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे द्रव्य को लक्ष में लेकर उसमें पर्याय को एकाग्र करने से आनन्द का अनुभव होता है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है और शरीर-मन-वाणी तो मृत कलेवर हैं, उस शरीर, मन, वाणी को आत्मा ने कभी ग्रहण नहीं किया है और न उन्हें आत्मा कभी छोड़ता है; और पर्याय में जो पुण्य पापादि विकार होते हैं, वे भी त्रिकालीस्वभाव में नहीं हैं; इसलिये उस विकार को छोड़ूँ और निर्मल दशा को ग्रहण करूँ—ऐसा भी त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि में नहीं है। पर्याय में वैसा होता अवश्य है, किन्तु त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि देखें तो आत्मा न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना, वह धर्म है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, परन्तु वह द्रव्य में अन्तर्मुख होकर अभेद होती है।

पर के ग्रहण-त्याग की बात आत्मा के द्रव्य-गुण में तो नहीं है और एक समयपर्यंत की पर्याय में भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं है। एक समयपर्यंत की अवस्था में पुण्य-पाप है परन्तु त्रिकालीस्वभाव में तो उनका भी ग्रहण-त्याग नहीं है।—ऐसे एकरूप स्वभाव की दृष्टि, वह द्रव्यदृष्टि है और वह द्रव्यदृष्टि, सो सम्यग्दृष्टि है।

केवलज्ञानपर्याय, त्रिकाली ज्ञानगुण में से प्रगट होती है, तथापि गुण कम होकर वह पर्याय नहीं होती, गुण का सामर्थ्य तो ज्यों का त्यों परिपूर्ण रहकर पर्याय होती है। जिस प्रकार थैली में सौ रुपये हों; उसमें से एक रुपया निकाल लेने पर एक रुपया कम हो जाता है, वैसा यहाँ गुण में नहीं है; पर्याय प्रगट होने से गुण का सामर्थ्य कम नहीं हो जाता।—ऐसा ही अचिन्त्य स्वभाव है। केवलज्ञान और सिद्धदशा आये कहाँ से ? ...तो कहते हैं कि द्रव्य में से; द्रव्य में कुछ कम हुआ ? ...तो कहते हैं कि नहीं। देखो, यह वस्तुस्वभाव ! संसारदशा हो, साधकदशा हो या सिद्धदशा हो—परन्तु द्रव्य-गुण में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। अल्प-अधिकदशा होती है, वह पर्यायदृष्टि का विषय है; यहाँ द्रव्यस्वभाव की प्रधानता है, क्योंकि द्रव्य की दृष्टिपूर्वक ही पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

बाह्य का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में नहीं है; अंतर में निर्मलदशा का ग्रहण और विकार का त्याग, वह पर्याय अपेक्षा से है, किन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से तो वह भी नहीं है। आत्मा अपनी पर्याय में पुण्य-पाप करे अथवा वीतरागता करे, तो भी ऐसी शक्ति नहीं है कि पर का ग्रहण या त्याग करे। राग करके दूसरे को सहायता दे सके या द्वेष करके दूसरे को हानि पहुँचा सके—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है। आत्मा अपने में सच्चे श्रद्धा ज्ञान प्रगट करे, किन्तु उससे कहीं वह सच्चे देव-गुरु-

शास्त्र को निकट लाये या कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को दूर करे—ऐसी शक्ति उसमें नहीं आ जाती। आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय में पर को ग्रहण करने या छोड़ने की शक्ति नहीं है। पर की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय में विकार का त्याग या अविकार भाव का ग्रहण, वह भी एक समयपर्यंत की पर्याय का—अंश का ही स्वभाव है; अंशी ऐसे त्रिकाली द्रव्य के स्वभाव में कुछ नया ग्रहण-त्याग नहीं है—ऐसा आत्मा का त्यागोपादानशून्य स्वभाव है। आत्मा का ऐसा स्वभाव पूर्व अनन्त काल में जीव ने एक क्षण भी नहीं जाना है, यदि उसे जान ले तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे। जिसको इस संसार परिभ्रमण से थकान मालूम हुई हो और मुक्ति की आवश्यकता हो, उसे मुक्ति कहाँ ढूँढ़ना चाहिए?—आत्मा की मुक्ति पर में ढूँढ़े तब तो नहीं मिल सकती; पुण्य-पाप में भी नहीं मिल सकती; वर्तमान अपूर्ण पर्याय में नहीं मिल सकती; विकार को छोड़ूँ और निर्मलता प्रगट करूँ—ऐसे लक्ष्य से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती; किन्तु जिसमें विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है—ऐसे ध्रुव-एकरूप द्रव्यस्वभाव में ढूँढ़े तो उसमें से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। ध्रुवस्वभाव-सन्मुख होकर उसका अवलम्बन लेने से पर्याय में मुक्ति हो जाती है।

पर का ग्रहण-त्याग तो त्रिकाली द्रव्य में भी नहीं है और अवस्था में भी नहीं है; अब अपने में देखना रहा। अपनी पर्याय में भी विकार को दूर करूँ—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख लक्ष करने से विकार दूर नहीं होता, परन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है; फिर भी जो पर्याय के लक्ष से विकार का छूटना मानता है, उसके अभिप्राय में मिथ्यात्व है। पर्याय के लक्ष से विकार नहीं छूटता परन्तु द्रव्य के लक्ष से एकाग्र होने से विकार दूर होकर निर्विकारीदशा प्रगट हो जाती है; इसलिये यहाँ एक समय की अवस्था गौण करके—उसपर भार न देकर, त्रिकाली द्रव्य की मुख्यता करके उसी के अवलम्बन का उपदेश है, यही मोक्षमार्ग की रीति है। इसके अतिरिक्त अवस्था की मुख्यता करके उसी पर दृष्टि रखने से धर्म नहीं होता। द्रव्यस्वभाव-सन्मुख दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और मिथ्यात्व दूर नहीं होता। सवेरे प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में ऐसा कहा था कि जो अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है;—उसमें भी द्रव्यदृष्टि की यही बात है। वहाँ अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय बतलाकर, आत्मा का त्रिकालीस्वभाव बतलाया है। विकार छोड़े और निर्विकाररूप से परिणमित हो—ऐसे दो भेद त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; पर्याय में वे भेद हैं परन्तु साधक की दृष्टि में वे गौण हैं, क्योंकि पर्याय के विकार का त्याग, पर्याय के लक्ष से नहीं होता परन्तु द्रव्य के लक्ष से ही विकार

का त्याग होता है; इसलिये मोक्षमार्ग में सदैव निश्चय की ही मुख्यता है और कभी-कभी पर्याय की मुख्यता भी साधक की दृष्टि में हो जाती है—ऐसा नहीं है। त्रिकाल के साधक जीवों की दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है। साधक की दृष्टि में से द्रव्य की मुख्यता एक समय भी नहीं छूटती। विकार का त्याग और निर्विकार का ग्रहण पर्याय में होता है, परन्तु वह कब होता है?—जब त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करे, तब वैसा होता है; इसलिये आत्मा के स्वभाव में विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है; इसलिये उसमें कुछ कम-अधिक नहीं होता—ऐसा कहकर यहाँ एकरूप त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करायी है।

अज्ञानी जीवों को ऐसा लगता है कि हम यह सब लेते और छोड़ते हैं—परन्तु अरे भाई! तू तो आत्मा है, परद्रव्य तुझसे भिन्न हैं; तेरा स्वभाव उन परद्रव्यों के ग्रहण-त्याग से रहित है; परद्रव्य को ग्रहण करे या उसका त्याग करे—ऐसी शक्ति आत्मा में है ही नहीं। क्या आत्मा है; इसलिए जगत के पदार्थ हैं?—ऐसा नहीं है। और आत्मा की पर्याय है; इसलिये जड़ की पर्याय है—ऐसा भी नहीं है जगत का प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने से स्वतंत्र है, पर के ग्रहण-त्याग से रहित और पर्याय की हीनाधिकता के भेदों को गौण करके आत्मा के एकरूप निश्चल स्वरूप को देखना वह इन शक्तियों के वर्णन का सार है।

—इस प्रकार त्यागोत्पादानशून्यत्व नाम की १६ वीं शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

●●

कोई भी वस्तु बेकाम नहीं है

जगत में कोई भी वस्तु ''बेकाम'' नहीं है।

जगत में जो भी जड़ या चेतन पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने कार्यसहित ही हैं, कार्यरहित कोई भी पदार्थ नहीं है। इसलिये जगत में कोई भी वस्तु बेकाम नहीं है।

'कोई भी वस्तु बेकाम नहीं है'—इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा के लिये भी वह वस्तु काम की है! आत्मा के लिये तो सभी परवस्तुयें बेकाम (अकिंचित्कर) ही हैं; कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिये अकार्यकारी ही है; किन्तु प्रत्येक वस्तु अपने-अपने कार्य को करती ही है; कोई भी वस्तु जगत में अपने कार्य से रहित नहीं है। प्रति समय परिणमित होकर अपनी अवस्थारूपी कार्य को न करती हो, ऐसी कोई भी वस्तु जगत में नहीं है; इसलिये जगत में कोई भी वस्तु बेकाम नहीं है।

'संग्रह करके रखा हुआ साँप भी काम आता है'—ऐसी यह बात नहीं है; किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वतंत्ररूप से अपने कार्य को करती है—ऐसी स्वतंत्रता की यह बात है। जगत की कोई भी वस्तु अपने कार्य से रहित नहीं और पर का कार्य करती नहीं है। कोई पदार्थ ऐसा पराधीन नहीं है कि अपने कार्य के लिये उसे दूसरे पदार्थ की आवश्यकता हो।

'लकड़ी भी बेकाम नहीं है अथवा विष्टा भी बेकाम नहीं है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि वे वस्तुयें कभी-कभी आत्मा के काम आती हैं किन्तु उन लकड़ी आदि वस्तुओं के रजकण भी प्रति समय परिवर्तित होकर अपना कार्य कर रहे हैं। अपने स्पर्श-रसादि के परिवर्तनरूपी कार्य उनमें भी हो रहा है; इसलिये वे बेकाम (अपने कार्य से रहित) नहीं हैं। जगत की प्रत्येक वस्तु अपने कार्यसहित हैं।

आत्मा भी प्रति समय अपने कार्य को करता ही है। 'मैं पर का कार्य करूँ और परवस्तु मेरे काम आये'—ऐसी अज्ञानबुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि जीव प्रति समय अपने विपरीतभावरूपी कार्य को करता है, और ज्ञानी ''पर का कार्य मुझमें नहीं है और न मेरा कार्य पर में है''—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करके, अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलदशारूपी कार्य को करता है।

जगत में प्रत्येक वस्तु अपना कार्य करती है;—ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर किसी भी पर वस्तु के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि छोड़ देना और अपने आत्मकार्य की सँभाल करना, वह हित का उपाय है।

[—पूज्य गुरुदेव]

आत्मा के शुद्धस्वरूप की समझ

प्रभो ! भिन्न-भिन्न बाह्य साधनों में तू जो आनंद मान रहा है, वह भ्रम है; तेरे आनंद का स्थान बाह्य में नहीं है किन्तु तेरे असंख्य चैतन्य प्रदेश में ही तेरा अखण्ड आनंद भरा है; उसे प्रतीति में लेकर अन्तर्मुख दृष्टि कर तो तुझे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अनुभव में आयेगा और भवभ्रमण के दुःख का अन्त हो जायेगा।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है;—उसका भान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा आत्मस्वभाव की साधना करके जो सर्वज्ञ हुए हैं, और उन्होंने आत्मा का जैसा स्वभाव देखा है, तथा दिव्यध्वनि में कहा, वैसा ही आत्मा को पहिचाने तो सम्यग्ज्ञान हो। सर्वज्ञ होने की शक्ति आत्मा में विद्यमान है; उसी में से सर्वज्ञता प्रगट होती है। यदि स्वयं वस्तु में शक्ति न हो तो वह कहीं बाहर से नहीं आ सकती; और अंतरशक्ति में ही जो शक्ति भरी है, वह किसी बाह्य कारण से प्रगट नहीं होती। जिस प्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौसठ पुटी चरपराहट प्रगट होने की शक्ति है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण सर्वज्ञता होने की शक्ति है; आत्मा में ही सर्वज्ञ होने की शक्ति है—यह बात जीव ने कभी यथार्थरूप से नहीं सुनी। वास्तव में सुनी कब कही जाती है ?—जब सर्वज्ञ भगवान और संतों का कहा हुआ आशय स्वयं समझे, तब सुनी कही जाती है।

यहाँ जिज्ञासु शिष्य, ज्ञानी संत-गुरु के निकट जाकर आकांक्षापूर्वक पूछता है कि प्रभो ! मुझे आत्मा का ज्ञान कैसे हो ? आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द कैसे प्रगटे ? जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है—ऐसे गुरु के निकट जाकर शिष्य प्रश्न पूछता है कि—प्रभो ! शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है कि जिसे जानने से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो और भवभ्रमण के दुःख से मुक्ति हो जाये ?

तब श्रीगुरु उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हे भाई ! शुद्धनय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने से उसके आनन्द का अनुभव होता है और भव-भ्रमण का अन्त आ जाता है। पर्याय में क्षणिक अशुद्धता होने पर भी, अन्तर्दृष्टि से शुद्धनय द्वारा आत्मा के स्वभाव को देखने पर विकार रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। विकार और बन्धन रहित आत्मस्वभाव त्रिकाल है; उसके सन्मुख दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय का और सम्यग्दर्शन का विषय एक ही है, वह श्रीगुरु शुद्धनय द्वारा कहेंगे कि—जिस नय से आत्मा को बन्ध रहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यपने

रहित, विशेष-रहित; अन्य के संयोग रहित—ऐसा पंच भावरूप देखते हैं, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान। (स.सार, गा. १४)

शिष्य को शुद्ध आत्मा समझने की जिज्ञासा हुई, इसलिये उसने प्रश्न पूछा कि प्रभो! आप कहते हैं वैसे शुद्ध आत्मा का अनुभव किस प्रकार होता है? पर्याय में विकार होने पर भी शुद्ध आत्मा कैसे अनुभव में आता है?—उसके उत्तर में आचार्य भगवान समझाते हैं कि हे भाई! विकारी भाव अभूतार्थ है; वह आत्मा का मूलभूत स्वभाव नहीं है; इसलिये आत्मा के भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर अनुभव करने से वह विकार रहित शुद्धरूप से अनुभव में आता है।

भगवान! अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने का यथार्थ प्रयत्न तूने कभी नहीं किया। उसे जानने का उपाय किन्हीं बाह्य कारणों से नहीं होता किन्तु संयोग और विकार से रहित—ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर उसका ज्ञान करना ही उपाय है। जिस प्रकार नरेली और छिलके सफेद खोपरे के साथ एकमेक नहीं हो गये हैं किन्तु पृथक् हैं; उसी प्रकार शरीररूपी छिलके और कर्मरूपी नरेली उस चैतन्य-गोले के साथ एकमेक नहीं है; किन्तु पृथक् हैं। और खोपरे में ऊपर जो लाल रंग की छाल है, वह भी सफेद खोपरे का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु पृथक् है, इसलिये खमनी से छोलकर उसे पृथक् किया जा सकता है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में क्षणिक पुण्य-पाप की जो विकारी वृत्ति होती है, वह ऊपर की छाल जैसा उपाधि भाव है, वास्तविकस्वरूप नहीं है; शुद्धनय से देखने पर चैतन्यस्वरूप उस विकार से पृथक् शुद्ध ज्ञात होता है। हे शिष्य! यदि तुझे आत्मा के आनंद की आवश्यकता हो, धर्म चाहिये हो, तो ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को शुद्धनय से दृष्टि में ले।

आत्मा इस शरीर से पृथक् है। शरीर की जो आकृति दिखाई देती है, वह जड़ है, उससे भिन्न अरूपी आत्मा है, वह असंख्य प्रदेशी है। चार गति के परिभ्रमण में पृथक्-पृथक् अनेक आकर होते हैं, वे भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; उन भिन्न-भिन्न आकारों से लक्ष में लेने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप लक्ष में नहीं आता। आत्मा त्रिकाल एकरूप असंख्यप्रदेशी चैतन्यमूर्ति आत्मा त्रिकाल ज्यों का त्यों है; शरीर के संयोग से वह पृथक् है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में ही सुख है;—यह बात अज्ञानी को नहीं जमती और बाह्य साधनों से सुख मानता है। प्रभो! भिन्न-भिन्न बाह्य साधनों में तू आनन्द मानता है, वह भ्रम है; तेरे आनन्द का स्थान बाह्य में नहीं है; किन्तु तेरे असंख्य प्रदेश में है। तेरा अखण्ड आनन्द भरा है; उसे प्रतीति में लेकर अन्तर्मुखदृष्टि कर

तो तुझे अपने अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अनुभव हो। भाई! तेरे चैतन्य क्षेत्र में तो आनन्द की फसल पैदा हो सकती है; ऐसे आत्मा की दृष्टि कर तो आत्मज्ञान हो और भव का अंत आये। आत्मा के स्वभाव की ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् धर्मी को शुभराग भी होता है और ऐसी दृष्टि होने से पहले भी देव-गुरु के बहुमान, भक्ति आदि का शुभराग भी होता है, तथा उस राग के निमित्तरूप से जिनमन्दिर, वीतरागी प्रतिमा, पंचकल्याणक महोत्सवादि होते हैं। आत्मा के आनंद में झूलते हुए वीतरागी संतगुरुओं की ओर का भक्तिभाव और सर्वज्ञ वीतराग भगवान की स्थापना, पूजादि का भक्तिभाव धर्मों को आये बिना नहीं रहता। अकेले शुभराग में धर्म मानकर रुक जाये तो वह अज्ञानी है। धर्म तो अलग वस्तु है, धर्म करनेवाले की दृष्टि राग पर नहीं होती, धर्म तो ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से ही होता है; तथापि धर्म की भूमिका में वैसा राग आये बिना नहीं रहता। संसार के प्रसंग का राग तो सायंकाल की संध्या जैसा है, उसके पीछे अंधकार रहता है और धर्म के निमित्तरूप से वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्तिभाव आये, वह प्रातःकाल की संध्या जैसा है; उस राग का आदर छोड़कर चैतन्यदृष्टि करने से सम्यग्ज्ञानरूपी प्रभात प्रगट हो जायेगा। राग का आदर करके धर्म मनाये, वह तो अज्ञानी है; और वीतरागी देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग बिलकुल आता ही नहीं है—ऐसा माने तो वह भी शुष्क अज्ञानी है। जिसे धर्म की जिज्ञासा है, उसे धर्म प्राप्त करने से पहले और बाद में भी धर्मात्माओं के प्रति बहुमान एवं आदर का भाव आये बिना नहीं रहता। किन्तु अंतर में रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि से ही धर्म होता है। जब तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है, तब इन्द्र आकर महान महोत्सव करते हैं और पैरों में घुँघरू बाँधकर नृत्य करने लगते हैं। इन्द्र-इन्द्रानी स्वयं भी एकावतारी हैं, आत्मभानवाले हैं, उन्हें भी तीर्थंकर भगवान को देखकर ऐसा भक्तिभाव उछल आता है, अहो! नाथ यह आपका अन्तिम अवतार है, इसी भव में आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप की साधना करके आप केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त करेंगे। धर्म की जिज्ञासावाले जीव को सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति का ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। सर्वज्ञ भगवान, वीतरागी संत और धर्मात्मा के प्रति जिसे आदर-भाव नहीं आता, उसे धर्म की प्रीति ही नहीं है। तथापि जो राग है, उस राग के अवलम्बन से धर्म हो जाता हो—ऐसा भी नहीं है। शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा उस राग से भी पार है;—ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि करना ही धर्म है। ऐसे आत्मा की दृष्टि करे, तभी सम्यग्दर्शन और धर्म होता है; इसके सिवा अन्य कोई साधन नहीं है।●●

आत्मबोध

[बोटाद शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८०, ज्येष्ठ-कृष्णा १०]

जीव अनादिकाल से अपने आत्मा के यथार्थ बोध के बिना संसार परिभ्रमण कर रहा है। वर्तमान में ज्ञान का जो अंश व्यक्त है—मति-श्रुतज्ञान है, उसके द्वारा अकेले पर को जानता है; किन्तु उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके अपूर्व आत्मबोध करना, वह मुक्ति का कारण है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की पहिचान करके उसकी सम्यक् प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन को ''रत्न'' की उपमा है और वह मोक्ष का कारण होता है। यह देहादि की क्रियाएँ तो आत्मा से भिन्न हैं, ये कहीं आत्मा को धर्म का साधन नहीं हैं। जिसप्रकार—इस शरीर के स्पर्श का ख्याल करना हो तो शरीर के अवयवभूत उँगली द्वारा उसका ख्याल आयेगा, किन्तु लकड़ी द्वारा शरीर का स्पर्श करे तो उसका ख्याल नहीं आ सकता, क्योंकि वह वस्तु शरीर से पृथक् है। यदि उसी उँगली पर मैल की मोटी तह जम गई हो तो उस उँगली द्वारा भी शरीर के स्पर्श का बराबर ख्याल नहीं आ सकता। उसी प्रकार भगवान आत्मा अरूपी चैतन्य शरीर है; उसके ज्ञानानन्दस्वरूप का ख्याल शरीर की क्रिया द्वारा नहीं आ सकता; क्योंकि शरीर तो उससे पृथक् वस्तु है। भीतर जो ज्ञान का विकास है, वह आत्मा का अंश है; उस ज्ञान को स्वोन्मुख करने से आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का ख्याल आता है; क्योंकि वह ज्ञान अपनी वस्तु है। यदि उस ज्ञान पर विकार की तह जमी हो अर्थात् ''पुण्य-पाप है, सो मैं हूँ''—ऐसी विपरीत रुचि में ज्ञान रुका हो तो उस ज्ञान द्वारा आत्मा के स्वभाव का बोध नहीं होता। यह आत्मबोध की बात है। यदि एकबार भी यथार्थ आत्मबोध करे तो वह मोक्ष का कारण होता है। ऐसा आत्मबोध कैसे होता है, उसकी यह बात है।

''कोटि वर्षनुं स्वप्न पण जागृत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर थाय।''

जिस प्रकार निद्रा में आनेवाला करोड़ों वर्ष का स्वप्न भी जागृत होने पर एक क्षण में समा जाता है; करोड़ों वर्ष का स्वप्न हो, किन्तु उसे समाने में करोड़ वर्ष नहीं लगते; जागृत होते ही एक क्षण में दूर हो जाता है। उसीप्रकार आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को भूलकर—जड़ की क्रिया मेरी है और पुण्य-पाप वह मेरा स्वरूप है—ऐसी विपरीत मान्यता से अनादि विभाव करके संसार में

भटक रहा है; किन्तु मैं तो जड़ से भिन्न और रागादि से पार शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा स्व-सन्मुख आत्मबोध करे तो वह अनादिकालीन विभाव एकक्षण में नाश हो जाता है। अनादिकाल का विभाव नष्ट करने के लिये कहीं उतने लम्बे काल की आवश्यकता नहीं होती। चाहे जितने समय का अंधकार हो, किन्तु प्रकाश के होते ही वह क्षणभर में दूर हो जाता है; उसी प्रकार सत्समागम से जहाँ आत्मज्ञान का प्रकाश होता है, वहाँ अनादि के अज्ञान अंधकार का नाश हो जाता है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान परम आनन्द का कारण है; वह सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात है।

आत्मा का यथार्थ बोध कैसे होता है—वह रीति जीवों ने अनन्तकाल से नहीं जानी है। बाहरी लौकिक कलाएँ जानता है, किन्तु उन सबका ज्ञाता मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा अपने स्वभाव का लक्ष कभी नहीं किया। बाह्य साधनों से आत्मबोध नहीं होता; और जिज्ञासु को सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति का उल्लासभाव आता है, किन्तु वह शुभराग है; उस राग द्वारा भी आत्मबोध नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका बोध ज्ञान द्वारा ही होता है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके स्वसन्मुख करने से उसके द्वारा आत्मबोध होता है। ऐसा आत्मबोध होने पर अपने अंतर से आत्मा का संतोष प्रगट होता है; सिद्धभगवान जैसी अतीन्द्रिय शांति के अंश का अपने अंतर में वेदन होता है।—ऐसी दशा प्रगट हो, उसका नाम धर्म है। स्वसन्मुख ज्ञान के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है।

देखो, जिज्ञासुओं को श्री जिनेन्द्र भगवान का मंदिर, प्रतिष्ठादि का भाव आता है; संतों को भी तीर्थधाम की यात्रा का भाव आता है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी गिरनारजी तीर्थ की यात्रा को पधारे थे। ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता, किन्तु वह शुभराग है। पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि—

यात्रामिः स्नपनैर्महोत्सव शतैः पूजाभिरुल्लोचकै
नैवेद्यैर्वलिभिर्ध्वजैश्च कलशै स्तौर्यत्रिकैर्जागरैः।
घन्टा चामर दर्पणादिभिरपि प्रस्तार्थ शोभां परां
भव्यः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये॥

(देशवृतोद्योतन : २३)

इस जगत में चैत्यालय बनने से भव्य जीव यात्रा, कलशाभिषेकादि सैकड़ों प्रकार के बड़े-बड़े उत्सवों से तथा पूजा, चाँदनी आदि से, ध्वजारोपण से, कलशारोपण से, अत्यन्त सुन्दर वाद्यों से और घंटा, चँवर, छत्र, दर्पणादि से उस चैत्यालय की उत्कृष्ट शोभा बढ़ाकर पुण्य संचय करते हैं;

इसलिये भव्य जीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य कराना चाहिये।

शास्त्र में ऐसा शुभराग का उपदेश आता है; किन्तु आत्मा के भान बिना शुभराग करके कोई ऐसा मान ले कि इससे मुझे धर्म हो गया, अथवा यह मुझे धर्म का कारण होगा; तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू तो ज्ञानमूर्ति है; राग वास्तव में तेरा अवयव नहीं है। अपने ज्ञानरूपी अवयव को अन्तर में एकाग्र करके ज्ञानानन्दस्वरूप को लक्ष में ले, तो आत्मबोध हो और अविकारी शांति प्रगटे। उसका नाम धर्म है। इसके सिवा अन्य प्रकार से धर्म नहीं होता। जो बाह्य क्रिया से या शुभराग से धर्म होना मनाते हों, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

सिद्ध भगवन्त और अरिहंत भगवंत केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा हुए; उनका केवलज्ञान कहाँ से आया? शरीर में से या राग में से वह नहीं आया है; पहले अल्पज्ञान था उसमें से भी नहीं आया; किन्तु अंतर में ज्ञानानंदस्वभाव परिपूर्ण सामार्थ्य से भरपूर है; उसका अवलम्बन लेकर एकाग्र होने से उसमें से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। हे जीव! तेरा आत्मा ऐसे परिपूर्ण सामर्थ्य से भरपूर है; यदि ऐसे स्वसंवेद्य आनंदमूर्ति आत्मा को प्रतीति में लेकर उसका अनुभव करे तो वर्तमान में अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हो। सभी आत्मा अनादि-अनंत हैं; प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जितना एक आत्मा जानता है, उतना जानने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में है। केवली भगवान एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जानते हैं; वह ज्ञान अंतर की शक्ति में से आया है और ऐसी शक्ति प्रत्येक आत्मा में भरी है। वर्तमान में व्यक्त ज्ञान अल्प होने पर भी वह परिपूर्ण ज्ञान का अंश है; उस व्यक्त ज्ञान को अंतर्मुख करके परिपूर्ण ज्ञान शक्ति का अवलम्बन करने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। ज्ञान शक्ति के अवलंबन सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। पहले यथार्थ आत्मबोध करना चाहिये। आत्मबोध करना, वह धर्म की प्रथम क्रिया है। धर्म अपूर्व है। दुनिया बाहर से और राग से धर्म मान बैठी है, किन्तु धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, मोक्ष का कारण है; उसमें आत्मा का यथार्थ बोध करना, वह सम्यग्ज्ञान है; वह मोक्ष का एक रत्न है। ऐसा आत्मबोध प्रगट करना, वह धर्म का प्रारम्भ है।●●

आत्मा का ध्येय क्या ?

देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है; उसकी पहिचान करके उसमें एकाग्र होना ही आत्मा का ध्येय और कर्तव्य है। आत्मा के भान बिना अनादिकाल से आत्मा संसार में भटक रहा है; वह संसार परिभ्रमण दूर होकर जिससे आत्मा की मुक्ति हो, ऐसा कौन सा कर्तव्य है, उसकी यह बात हो रही है। इस आत्मा को अपना शुद्ध आत्मा ही ध्येय है; उस शुद्ध आत्मा को ध्येय बनाकर उपयोग को एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है; उससे संसार का नाश होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

आत्मा शरीर से भिन्न, ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; उसका स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है; किन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके अपने स्वरूप को न देखकर अनादि से बाह्य में इन्द्रियविषयों को ही देख रहा है और वहीं अपनापन मानकर रुकता है; इसलिये अनादिकाल से उसमें तत्त्वज्ञान की तरंगें नहीं उठती। यह तत्त्वज्ञानतरंगिणी पढ़ी जा रही है; आत्मा में तत्त्वज्ञान की तरंगें कैसे उठे, उसकी यह बात है। यह तो शरीर दिखाई देता है, वह तो जड़ है; उसका ज्ञाता आत्मा, देह से भिन्न है और प्रतिक्षण अन्तर में रागादि की जो वृत्ति होती है, वह कृत्रिम-उपाधिरूप क्षणिक है; वह आत्मा का नित्यस्थायी स्वरूप नहीं है; उससे रहित ज्ञानानन्दस्वभाव से आत्मा अनादि-अनन्त है;—ऐसे आत्मा की सँभाल करके उसे ज्ञान का ज्ञेय बनाये तो आत्मा में तत्त्वज्ञान की अपूर्व तरंगें उछलती हैं; वह मोक्ष का कारण है। ज्ञानस्वभाव तो ज्यों का त्यों अनादि-अनन्त हैं; किन्तु जीव ने कभी अपने स्वरूप की सँभाल नहीं की, इसलिये वह संसार में भटकता है। यदि एक क्षण भी अपने वास्तविक स्वरूप की सँभाल करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

देखो भाई! यह मनुष्यदेह प्राप्त होना अनन्तकाल में महँगा है। मनुष्यपना प्राप्त करके अपूर्वता से विचार करना चाहिए कि अरे, मेरे आत्मा का हित कैसे हो? मेरा आत्मा अनादि से इस संसार में भटक रहा है तो अब ऐसा कौन सा उपाय करूँ कि जिससे संसार भ्रमण का अन्त आये और आत्मा की मुक्ति हो! मैं शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप हूँ—इस प्रकार अपने स्वरूप की पहिचान करना ही इस मनुष्यपने में करने योग्य ध्येय है और वही धर्म है।

आत्मा का ध्येय क्या? कर्तव्य क्या? अथवा धर्म की क्रिया क्या?—उसकी यह बात है। प्रथम शरीरादि की क्रिया, वह आत्मा का ध्येय नहीं है, क्योंकि वह जड़ है—आत्मा से भिन्न वस्तु है और अन्तर में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह भी आत्मा का ध्येय नहीं है, वह तो विकार है।

भगवान आत्मा इस देह से पार चैतन्यतत्त्व है; वह ज्ञाता-दृष्टा है; यदि वह स्वयं अपने को जाने-देखे तो आनन्द का अनुभव हो और परमानन्दमय मुक्तदशा प्राप्त करे। इसलिये अपना शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही इस आत्मा का ध्येयरूप है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप क्रिया, वह मोक्ष का कारण है।

अनादि से अपने वास्तविक ध्येय को चूककर अज्ञानी जीव—'शरीर के कार्य मेरे हैं, संयोग की क्रिया से मुझे लाभ या हानि होती है, तथा पुण्य-पाप मेरा ध्येय है'—ऐसा मानकर पर में और राग में एकाग्रता से विपरीत ध्यान करता है; इसलिये संसार में भटकता है। सत्समागम से सत्य का श्रवण करके उसके यथार्थ भाव को जीव ने कभी एक क्षण भी हृदय में धारण नहीं किया; शरीर की क्रिया तथा राग की पकड़ में अटक गया है; किन्तु उससे पार अन्तर में चैतन्य-तेज-ज्ञानबिम्ब मैं हूँ;—ऐसी पकड़ अन्तर में कभी नहीं की। ज्ञाता ने स्वयं अपने को नहीं जाना और पर को जानकर वहीं अपनापन माना, इसलिये वह चार गतियों में भ्रमण कर रहा है। वह भ्रमण कब दूर हो?—तो कहते हैं कि मैं तो ज्ञाता हूँ; परवस्तुओं को जानने पर भी, मेरा ज्ञान उनसे पृथक् है;—ऐसा जानकर स्वयं अपने ज्ञान को ही ध्येय बनाये तो संसार भ्रमण दूर हो और आत्मा के आनन्द का अनुभव हो। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि धर्मी जीवों को अपने शुद्ध चिद्रूप आत्मा के सिवा अन्य कोई वस्तु ध्येयरूप नहीं है। शुद्धचिद्रूप आत्मा स्वयं ही अपना ध्येय है; वह स्वयं ही अपने को पूज्य है और वही आदरणीय है। जो जीव ऐसी बात समझे, उसे वह सुनानेवाले देव-गुरु-शास्त्र के प्रति पूज्यभाव-आदरभाव आये बिना नहीं रहता और उससे विपरीत कथन करनेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की ओर का आदरभाव छूट जाता है। अन्तर में चिदानन्दस्वभाव का बहुमान करके उसे ध्येय बनाने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ होता है;—ऐसा जो बतलाते हों, वे ही सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं। जो अन्तर के चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त किसी भी पर को ध्येय बनाने से लाभ होना कहते हों, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं।—इस प्रकार सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचान कर उनके बहुमान की बात भी इसमें आ जाती है।

परवस्तु तो आत्मा से पृथक् है; वह आत्मा का कुछ नहीं करती और आत्मा उसका कुछ नहीं करता। परवस्तुयें प्रति समय स्वतंत्ररूप से अपना कार्य कर रही हैं और आत्मा प्रतिसमय अपना कार्य करता है। सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में तीनकाल-तीनलोक देखे हैं; उनमें प्रत्येक पदार्थ प्रति समय अपना-अपना ही कार्य कर रहा है। जगत में कोई पदार्थ बेकाम नहीं है। 'कोई भी पदार्थ बेकाम नहीं है'—इसका क्या मतलब?—इसका यह मतलब नहीं है कि 'परवस्तु आत्मा के काम

आती है।' आत्मा के लिये तो पर वस्तु बेकाम ही है; किन्तु जगत में चेतन या जड़ प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणमित होकर अपने-अपने अवस्थारूपी कार्य को करती है; इसलिये उसका कोई भी समय बेकाम (परिणमन बिना) नहीं जाता; इसलिये कोई भी वस्तु बेकाम नहीं है। पर के लिये तो सभी वस्तुयें अकिंचित्कर अर्थात् व्यर्थ ही हैं; क्योंकि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है; तो उसमें वह क्या करेगी ? किन्तु प्रत्येक वस्तु अपने-अपने निज कार्य सहित है; इसलिये कोई वस्तु बेकाम नहीं है।

परवस्तु कभी अपने कार्य बिना नहीं है; इसलिये आत्मा, पर का कार्य करे, यह बात ही नहीं रहती; और आत्मा भी कभी अपने कार्य बिना नहीं है; इसलिये दूसरी कोई वस्तु इस आत्मा का कार्य करे—ऐसी नहीं होता। इसलिये आत्मा को कोई परवस्तु ध्येयरूप नहीं है। मैं पर का कार्य करूँ या परवस्तु मेरा कुछ कर दे—यह बात लक्ष में लेने योग्य नहीं है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ; कोई परवस्तु मेरी नहीं है—इस प्रकार लक्ष में लेकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को ही ध्येय बनाने योग्य है। वास्तव में इस आत्मा को अपना ज्ञानानन्दस्वभाव ही पूज्य और ध्येय है। और जो अपने ऐसे ध्येय का निर्णय करे, उस जीव को निमित्तरूप से वैसा ध्येय बतलानेवाले देव-गुरु के प्रति पूज्यभाव-विनय-भक्ति-बहुमान आये बिना नहीं रहता। आत्मा के स्वभाव की सर्वज्ञशक्ति को पहिचानकर जो अपनी सर्वज्ञता प्रगट करना चाहता है उसे, वैसी सर्वज्ञता को प्राप्त हुए सर्वज्ञदेव के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता, और उस सर्वज्ञता के साधक संतों के प्रति भी बहुमान आये बिना नहीं रहता।

आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति है—ऐसा जो स्वीकार करेगा, वह यह भी स्वीकार करेगा कि वह सर्वज्ञता किसी को व्यक्त भी हुई है; इसलिये उसमें सर्वज्ञ की प्रतीति आ गई। कोई कहता है कि हमें सर्वज्ञ का निर्णय तो नहीं है, किन्तु आत्मा के स्वभाव का निर्णय है;—तो उसकी बात झूठी है। आत्मा के स्वभाव का निर्णय हो और सर्वज्ञ का निर्णय न हो—ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार लेंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति विद्यमान है; प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञता के खजाने से भरपूर है। परमार्थतः ऐसा अपना आत्मा ही अपना ध्येय है। जिसने अपने आत्मा को ध्येय बनाकर उसकी श्रद्धा की, ज्ञान किया, किन्तु अभी पूर्णता प्रगट नहीं हुई है—ऐसे धर्मी को बीच में, जिनके पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो गई, ऐसे सर्वज्ञदेव के प्रति और उस सर्वज्ञता के साधक संतों के प्रति, तथा उस सर्वज्ञता का उपाय बतलानेवाली वीतरागी वाणी के प्रति बहुमान का भाव आता है और उस प्रकार के निमित्तों पर, लक्ष जाता है; इसलिये व्यवहार में

पंचपरमेष्ठी आदि को भी ध्येयरूप कहा जाता है, किन्तु परमार्थतः तो अंतर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही ध्येय है—ऐसा लक्ष धर्मी को बना ही रहता है।

प्रभु! अपने चैतन्य की प्रभुता को जान। बाह्य में संयोगों के ढेर हों, उनमें तेरी प्रभुता नहीं है; शरीर की सुन्दरता में तेरी प्रभुता नहीं है। राग द्वारा भी तेरे आत्मा की प्रभुता नहीं है; किन्तु चिदानंदस्वभाव में तेरी प्रभुता है; उसे ध्येय बनाकर उसकी प्रतीति, ज्ञान और एकाग्रता करना, वह धर्म है। अपने चैतन्य की प्रभुता को चूककर, पर को ध्येय बनाकर जीव अनादि से संसार में भटका है। अन्तर के चिदानन्दस्वभाव की प्रभुता को पहिचानकर उसे ध्येय बनाना, वह भव के नाश का उपाय है।

देखो, इस चैतन्य का स्वावलम्बी पक्ष अंतर में आत्मा के अवलम्बन से समझ में आता है; किन्तु उसके लिये अत्यन्त पात्रता से बारम्बार सत्समागम की आवश्यकता है; उसका परिचय भी बारम्बार होना चाहिये।—इसके सिवा अन्य कोई हित का उपाय है ही नहीं। सम्यग्दर्शन भी चैतन्य का ध्यान है, सम्यग्ज्ञान भी चैतन्य का ध्यान है और सम्यक्चारित्र भी चैतन्य का ध्यान है। चैतन्यस्वभाव के ध्यान से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। इसके सिवा किसी भी अन्य ध्यान से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होते। पर के अवलम्बन से लाभ मानना तो मिथ्यात्व है, और चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लेकर एकाग्र होना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसमें ध्येयरूप एक शुद्ध आत्मा ही है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, उसकी समझ जीव ने पहले कभी नहीं की। अनन्तकाल में जो बात नहीं समझा, उसे समझने के लिये अवकाश लेकर परिश्रम करना चाहिये। जगत के लौकिक अध्ययन में कितना समय व्यतीत करता है? और कितना परिश्रम करता है? तो जिसे आत्मा की दरकार हो, उसे आत्मा की समझ के लिये समय निकालकर श्रवण-मननपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। पर में तो आत्मा का परिश्रम काम नहीं आता; आत्मा की चतुराई के कारण बाह्य कार्य सुधर जायें या लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाये—ऐसा नहीं होता। लक्ष्मी आदि का मिलना या नाश होना तो पूर्व पुण्यानुसार होता है; और चैतन्यतत्त्व की समझ तो वर्तमान के अपूर्व प्रयत्न से होती है। मेरा आत्मा चैतन्यतत्त्व है, वह आनन्द का धाम है; वही जगत में उत्कृष्ट है और वही मेरा ध्येय है;—इस प्रकार चैतन्यतत्त्व को ध्येय बनाकर उसकी प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है; अन्य कोई सम्यग्दर्शन नहीं है; उस चैतन्य के स्वसंवेदनज्ञान के सिवा अन्य कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है और उस चैतन्य के ध्यान में एकाग्रता के सिवा अन्य कोई सम्यक्चारित्र नहीं है। चैतन्यस्वभाव के

अवलम्बन में ही पूरे मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है; चैतन्य के अवलम्बन सिवा अन्य किसी के अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं है। इस प्रकार मोक्षार्थी जीव को अपना चैतन्यतत्त्व ही ध्येय है।

धर्मी कहते हैं कि अहो! मेरा शुद्ध चिद्रूप आत्मा ही मुझे ध्येय है, इसलिये मैं प्रतिसमय चिद्रूप आत्मा का ही स्मरण करता हूँ—उसी को भाता हूँ; अपने शुद्ध चिद्रूप भगवान को मैं किसी भी क्षण नहीं भूलता। किसी भी क्षण मेरे शुद्ध चिदानन्दतत्त्व की दृष्टि नहीं छूटती। एकबार एक बाबाजी लँगोट भूल गये; दूसरे ने उनसे हँसकर पूछा कि अरे महाराज! लँगोट कहाँ भूल आये? तब बाबाजी ने उत्तर दिया कि—"भैया! मैं लँगोट तो भूल गया, लेकिन अपने कृष्ण को नहीं भूलता!"—यह तो बाह्य दृष्टांत है; अन्तर की यथार्थ दृष्टि तो अलग वस्तु है। उसी प्रकार यहाँ धर्मात्मा को अपने अन्तर में शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की मुख्यता की दृष्टि कभी नहीं छूटती। सारे जगत को भूला जा सकता है, किन्तु अन्तर के चैतन्यभगवान को एक क्षण भी कैसे भूला जा सकता है? राग-द्वेष हों, उस समय भी "मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ"—ऐसी अन्तर्दृष्टि धर्मी को कभी नहीं छूटती। चैतन्य के ध्येय को चूककर वे रागादि में कभी अपनापन नहीं मानते। इस प्रकार शुद्ध चिद्रूप आत्मा ही जगत में उत्तम और ध्येयरूप है।

अब शुद्ध चिद्रूप आत्मा ही किस प्रकार उत्तम तत्त्व है, वह कहते हैं:—

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञातादृष्टा स्वभावतः।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्मात् द्रव्योत्तमोऽस्ति॥१०॥

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा, ज्ञेय तथा दृश्य है, और वह अपने स्वभाव से ज्ञातादृष्टा भी है; जगत के अन्य किसी द्रव्य में ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव नहीं है; इसलिये चैतन्यस्वरूप आत्मा ही उत्तम द्रव्य है। जगत में यह शुद्ध चिद्रूप आत्मा ही ऐसा तत्त्व है कि जो स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है और स्वयं ज्ञेय-दृश्य भी है;—इसके सिवा अन्य कोई अचेतन पदार्थ ज्ञाता दृष्टा नहीं हैं; अपने ज्ञान प्रकाश से आत्मा ही सब को प्रकाशित करता है—जानता है; उसके ज्ञानप्रकाश के बिना सर्वत्र अंधकार है। इसलिये ज्ञानप्रकाशी भगवान आत्मा ही जगत में उत्तम तत्त्व है—ऐसा समझकर उसका श्रवण-मनन करो और उसी को ध्येय बनाओ! ज्ञानस्वरूपी आत्मा की समझ के सिवा अन्य जितने भी उपाय हैं, वे सब निरर्थक हैं—ऐसा निर्णय करके उसकी समझ का प्रयत्न करो।

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से स्वयं अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है; वहाँ स्वयं अपने को तो तन्मय होकर जानता है और पर को भिन्नरूप रहकर जानता है, इसलिये स्वयं अपना परमार्थ ज्ञेय है और जो शरीरादि भिन्न पदार्थ हैं, वह आत्मा का व्यवहार ज्ञेय

है। शरीरादि अचेतन पदार्थों में ज्ञेयपना है किन्तु ज्ञातापना नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय—इन दोनों की एकता तो आत्मा में ही है; ज्ञाता भी स्वयं और अपना ज्ञेय भी स्वयं—ऐसी शक्ति आत्मा के सिवा अन्य किसी में नहीं है, इसलिये आत्मा ही उत्तम तत्त्व है। किसी संयोग द्वारा, राग द्वारा या पुण्य द्वारा आत्मा की उत्तमता नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभाव द्वारा आत्मा की उत्तमता है। जिसे आत्मा की ऐसी प्रभुता भासित हो, उसका ज्ञान, पर से और राग से हटकर आत्मा में एकाग्र हुए बिना नहीं रहेगा, और आत्मा में एकाग्र होने से अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जायेगी। जड़ कर्म, आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं, और भगवान तारते हैं—ऐसा जो मानता है, उसकी अपनी स्वतंत्रता तो कहीं नहीं रही और न उसे चैतन्य की श्रेष्ठता का भास हुआ है। कर्म तो बेचारा अचेतन है, उसमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा को परिभ्रमण कराये। कर्म न तो आत्मा को जानता है और न स्वयं अपने को भी जानता है। आत्मा ही कर्म को जानता है और वह स्वयं को भी जानता है; किन्तु अज्ञानी अपने ऐसे ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति न करके पर को और राग को जानने से उसी रूप ज्ञान को मान लेते हैं; इसलिये संसार में भटकते हैं। आत्मा, कर्मों को और रागादि को जानता है किन्तु उनमें तन्मय होकर उन्हें नहीं जानता, उनसे भिन्न रहकर जानता है; और अपने शुद्ध चिद्रूपतत्त्व को तो तन्मय होकर जानता है। इस प्रकार पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके, उसमें तन्मय होकर शुद्ध चिद्रूप आत्मा को ही ज्ञान का ज्ञेय बनाना, वह मोक्षमार्ग है। भगवान तू अपने ऐसे महिमावन्त तत्त्व का श्रवण कर, उसका आदर कर और उसमें तन्मय होकर उसे जान; उस शुद्ध चैतन्यतत्त्व के आश्रय से ही तेरा कल्याण है।

भाई! तेरे ज्ञान में ''यह पर है, यह राग है''—इस प्रकार पर का और राग का ख्याल तो आता है न? तो उसका ख्याल करनेवाला ''मैं स्वयं ज्ञान हूँ''—इस प्रकार अपने ज्ञान का ख्याल क्यों नहीं करता? ज्ञान को बाह्योन्मुख करके पर को जानता है; तो उसे अन्तरोन्मुख करके अपने को क्यों नहीं जानता? अज्ञानी जीव, पर को या राग को जानने से वहीं तन्मयता मान लेता है, किन्तु पृथक् ज्ञान उसके लक्ष में नहीं आता, इसलिये वह संसार में भटकता है। उसके बदले, पर को और राग की जाननेवाला मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरा ज्ञान, पर से और राग से पृथक् ही है—ऐसा निर्णय करके, ज्ञानतत्त्व में ही तन्मय होकर उसे अपना ज्ञेय बनाना, वह अपूर्व धर्म है और वह मुक्ति का मार्ग है। बस! बाह्य में ज्ञान का ध्येय किया, वह संसार है और अंतर में चैतन्यतत्त्व को ज्ञान का ध्येय बनाया, वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा का चिदानन्दस्वभाव सूक्ष्म है; उसका ज्ञान भी सूक्ष्म है; राग तो स्थूल है; उसके द्वारा

सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव पकड़ में नहीं आता। सूक्ष्म चिदानन्दस्वभाव को जानने के लिये अन्तर में ज्ञान का अपूर्व प्रयत्न करना चाहिये; उस ज्ञान में शुभ विकल्प का भी अवलम्बन नहीं है। आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है; उसे अपने स्वभाव के साथ ज्ञान की एकता करके जानना चाहिये; उसके बदले पर के साथ ज्ञान की एकता मानता है; इसलिये वह स्वयं अपने को नहीं जानता और अज्ञान के कारण संसार में भटकता है। आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वभाव में ज्ञान की एकता करके उसे जानना और उसमें एकाग्र होना, वह मोक्ष का उपाय है। आत्मा अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव से ही स्व-पर को प्रकाशित करता है, किन्तु राग के या पर के कारण प्रकाशित नहीं करता। राग के समय उसे जानने से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इस राग के कारण मुझे ज्ञान होता है; किन्तु उस राग के समय वैसा ही ज्ञान अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति में से विकसित हुआ है—ऐसी ज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति अज्ञानी को नहीं बैठती। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने पर भी, अज्ञानी को अपना विश्वास नहीं बैठता; इसलिये उसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान का कार्य विकसित नहीं होता—अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का निर्णय करके स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव को अपना ज्ञेय बनाये तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो और धर्म हो। राग और ज्ञान का भेदज्ञान होने के पश्चात् धर्मी जीव को राग का भी ज्ञान होता है, किन्तु उसके उस राग के साथ ज्ञान की एकता नहीं होती। राग का ज्ञान हो, वह भी अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का काल है—उस काल ज्ञान का वैसा ही सामर्थ्य विकसित हुआ है;—इस प्रकार राग के ज्ञान के समय भी उससे भिन्न ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में रखना, वह धर्म है। ज्ञान में राग ज्ञात हो, वहाँ ज्ञानी तो अपने ज्ञान का ही सामर्थ्य देखते हैं, और अज्ञानी अकेले राग को ही देखते हैं। राग के समय उस राग का ज्ञान होता है; इसलिये राग के कारण वह ज्ञान हुआ हो—ऐसा नहीं है। पर के कारण या राग के कारण ज्ञान नहीं होता; किन्तु मैं अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव के कारण ही जानता हूँ; मेरे ज्ञान में जब राग ज्ञात हो, उस समय भी उस राग की अधिकता नहीं है, किन्तु मेरे ज्ञानसामर्थ्य की ही अधिकता है। राग से मेरी भिन्नता है और ज्ञान के साथ एकता है;—इस प्रकार भेदज्ञान करके अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उस में एकता करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तरंगें उठती हैं, वह मुक्ति का मार्ग है।

[वीर सं. २४८०, पौष कृष्णा १२ के दिन राजकोट शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय १, श्लोक ९-१०)

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	२)
श्री मुक्तिमार्ग	।।=)	समयसार सटीक	१०)
श्री अनुभवप्रकाश	।।)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	।।।)		
समयसार प्रवचन भाग २	५।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।।)	अध्यात्म पाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समयसार पद्यानुवाद	।)
अष्टपाहुड़	६)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)॥)
चिद्विलास	१=)	स्तोत्रत्रयी	।।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	=)
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण	१।=)	आत्मधर्म–मासिक लवाजम–	३)
दसलक्षणधर्म	।।।)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १–२–३	
जैन बालपोथी	।)	५–६–७–८–१०	३।।।)

हिन्दी आत्मधर्म की फाईलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाईलें एक साथ लेनेवालों को ३०–०–० के बदले २०–०–० में दी जायेंगी।

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी